श्रद्धा-कण



वियोगी हरि



१९५७
सस्ता साहित्य प्रकाशन

प्रकाशक,
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली।

दूसरी बार : १९५७
मूल्य
पचत्तर नये पैसे
(बारह आने)

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली।

अँधेरे में भटकती मानवता को
जिसने प्रतिक्षण प्रकाश-पथ दिखाया,
उसी करुणावतार महात्मा के
श्री चरणों में ——

दो शब्द

बापू की प्रथम बलिदान-तिथि के पुण्य अवसर पर, दिल्ली में राजघाट पर, एक विशेष प्रकार की प्रदर्शिनी का आयोजन किया गया था, जिसमें बापू के अनेक प्रकार के चित्र, पत्र और दूसरी बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ संग्रहीत की गई थी। इस 'गांधी-मंडप-प्रदर्शनी' की आशातीत सफलता ने सबको प्रोत्साहित किया। विदेशी आगंतुकों, भारतीय विशेषज्ञों और जनता ने सर्वत्र इसकी सराहना की। प्रदर्शिनी की विशेषता उसकी कलापूर्ण सादगी में थी। उसकी भावना और वातावरण ने हज़ारों लोगों को आकर्षित किया। एक बड़ा लाभ यह भी हुआ कि भावी संग्रहालय के लिए पर्याप्त सामग्री भी एकत्र होगई।

श्री हरिजी उन कतिपय विद्वानो में से हैं, जिनकी शक्ति बापू के विचारों तथा आदेशों को कार्यान्वित करने में वर्षों से लगी हुई है। इस प्रदर्शिनी के लिए श्री काकासाहब (कालेलकर) तथा श्री हरिजी ने काफी श्रम उठाकर कई सूक्तियाँ लिखी थीं, जिन्हें बड़े अक्षरों में छपवाकर स्थान-स्थान पर पोस्टरों की शक्ल में रखा गया था। उन रचनाओं ने गांधी-मंडप की उपयोगिता तथा विशिष्टता को कई गुना बढ़ा दिया था। अब श्री हरिजी ने अपनी सूक्तियों को 'श्रद्धा-कण' द्वारा, और स्थायी रूप देकर, जनता को अत्यंत अनुगृहीत किया है।

—देवदास गांधी

श्रद्धा-कण

: १ :

चारो ओर दूर-दूरतक अधेरा-ही-अधेरा छाया था,
ऐसे में वह चुपचाप सुनहरी सीढ़ी से उतरा,
और उसने अपने शीतल दीपक का उँजेला आँगन मे
चारो ओर विखेर दिया ।
अधेरे मे टटोलते फिरते थे जो,
उन भूले-भटको ने एक-दूसरे को तो पहचाना ही,
अपने आपकोभी पहचाना ।
महात्मा ने उन्हे प्रकाश दिखाया, और उदय दिखाया ।
इसीलिए तो आज वे श्रद्धालुजन उसका पाद-पूजन कर रहे है;
और उनके पुण्योत्सव पर देवताओं ने भी पुष्प बरसाये हैं ।

: २ :

शताब्दियो से दूर अंधेरे कोने मे वे दबे पड़े थे—
सॉंस भी खुलकर नही ले सकते थे ।
न उनके लिए धरती थी, न आकाश !
पैरों को, और हाथो को भी सॉंकल से जकड़ रखा था
उस प्राचीन देश के निवासियों ने-
किसीकी सॉकल लोहे की थी, तो किसीकी चांदी की,
और किसीकी सोने की
वह महात्मा उस अधेरे आयतन मे पहुँचा,
उसने मोटी-मोटी दीवारे तोड़दी—
खिड़कियॉ खोली, झरोखे वनाये,
और कोना-कोना प्रकाश और सुगंध से भर दिया ।
वे मुक्त हुए—वाहर से भी और भीतर से भी ।
अव धरती भी उनकी थी, और आकाश भी उनका ।
तव क्यो न वे मुक्त देश के निवासी
उस महात्मा के चरणो पर वार-वार मस्तक झुकाये ?

: ३ :

जिन्हें ऊपर उठने के बल का पता भी नहीं था,
और जो दबे पड़े थे चट्टान को अपने आप ऊपर
गिराकर—
या, नीचे को, अंधेरे गड्ढे में, फिसलते ही चले जा रहे थे,
उन्हें उस महात्मा ने सहारा दिया, साहस बँधाया।
उसका प्रकाश पाकर आँख खोली उन्होंने,
और अपने बल को समेटा,
और चट्टान को चूरचूर कर दिया।
वे मुक्तजन अब मुक्ति-दाता के चरणों पर श्रद्धांजलि
अर्पण कर रहे थे।

: ४ :

अद्भुत चमत्कार था वह एक—
विना आवाहन किये ही वह आ पहुँचा !
न वहाँ आसन था, न अर्घ्य;
और न चंदन, न पुष्प ।
अच्छा हुआ कि उसे इस अर्चा-सामग्री की अपेक्षा भी नही थी ।
उसने स्वयं ही शख-नाद किया,
और मूर्च्छितों को जगाया ।
प्रकाश-किरणें फेंकते हुए उस महात्मा ने कहा—
"आर्यशील को आचरित करो, यही मेरी अर्चा होगी,
जीवमात्र की पूजा करो, यही मेरे प्रति तुम्हारी
श्रद्धाजलि होगी ।"

: ५ :

वही तो पुण्य प्रभात था,

जब ऋषियो ने मधुरस्वर मे आर्यशील का मगल

गायन किया था ।

उसी प्रभात-गायन के ताल-स्वर से राष्ट्र की संस्कृति ने

आँख खोली थी ।

किंतु कालांतर से आर्यशील की अवहेलना होने लगी ।

अथवा, पात्र मे छिद्र-ही-छिद्र हो गये, और अमृत ठहर न सका ।

संस्कृति के पलक गिरे—

पहले तो निद्रित, और फिर वह मूर्च्छित हो गई ।

महात्मा से यह मोहाक्रमण न देखा गया ।

उसने तपद्वारा आर्यशील का आवाहन किया,

और फिर करुणा के ठडे छीटे छिरककर मूर्च्छित

संस्कृति को जगा दिया ।

ऋषियो ने फिर उसी मधुरस्वर मे मगल गायन किया ।

: ६ :

"उसने उन्हें स्वातंत्र्य और स्वराज्य दिलाया"—
यह उस महात्मा का पुण्यस्मरण नही।
क्योंकि मात्र यही उसका जीवन-संदेश नही था।
उसने जो असीम प्रकाश फैलाया,
उसमें वे अपने-आपको पहचानें—
यही उस महात्मा का श्रद्धापूर्ण स्मरण और पूजन होगा।
स्वतंत्र राष्ट्र के कृतज्ञ निवासी उसकी पुण्यस्मृति में
महोत्सव मनायें—
और उसका इसी विधि से स्मरण करें, इसी विधि से पूजन करें।

: ७ :

नगर के कोलाहाल से दूर बास औ' फूस की झोपड़ी डालली,
और उसमे जाकर वह बैठ गया—
प्राय: मौन, और कभी-कभी आँखो पर पट्टी चढाकरभी;
पर वह निर्जन स्थान भी धीरे-धीरे जनाकीर्ण होने लगा।
लोग अपने अनेकविध प्रश्न और गाथाएँ ले-लेकर पहुँचे।
जितना ही वह तप.साधना मे निरत होता,
उतने ही वेग से उसके अतर से करुण-निर्झर फूट पडता—
और अधिकाधिक जन उसकी झोपडी या उसके महल के
चारों ओर इकट्ठे हो जाते,
और कई तो वही बस भी जाते थे।
उन सबको छोडकर यों राष्ट्र के स्नेहशील वृद्ध पिता को
शाति-सुख किसी निर्जन स्थान मे मिलता भी तो नही।

: ८ :

आंग्ल-सत्ता का उसने ध्वस किया,—
यही उस महात्मा का पुण्यचरित समाप्त नही हो
जाता ।
लंका-विजय के साथ राम-चरित की 'इति' कहाँ हुई थी ?
वह ध्वंस-प्रकरण तो सत्य के सामने पड़ा मात्र एक आवरण था—
उसे हटाकर वह महायात्री अनत प्रकाश की ओर
बढ़ता जा रहा था।
उसके पुण्यचरित की 'इति' तो तव हुई,
जिस क्षण उसने अहिसा को अंतिम आलिगन दिया,
और अत:सत्य का सम्यक् दर्शन किया ।

: ९ :

वह प्रशातात्मा प्रार्थना-भूमि पर प्रवचन कर रहा था।

एक दिव्य दृश्य था वह !

हिमांचल के अंक से जैसे अलकनदा पुण्यकण बरसा रही हो;
अथवा, आश्रम का पवन चारों ओर हवन-गंध विखेर रहा हो;
और यह भी देखा—
जैसे मानस मे से पख फुलाये हसो की शुभ्र पंक्ति
निकल रही हो।
प्रार्थना-भूमि पर निरतर नि.श्रेयस् झर रहा था
उस प्रशांतात्मा की शरद्वाणी से।

: १० :

सो, उसके सहस्रों अनुयायी बन गये—
और जयकार तो उसका लाखों-करोड़ों ने बोला ।
कोई तो धीरे-धीरे चलते,
और कोई उसके पीछे-पीछे दौडते थे ।
यात्रा का पाथेय किसीने तो कठोर आग्रह को बनाया,
और किसीने बारबार के अनाहार को ।
कितने तो कारागृह को ही योगपीठ बना बैठे ।
किसीने उसे द्रव्य दिया, और किसीने श्रद्धा-दान—
और किसीने आगे वढकर उसके साथ अपने चित्र खिचाये ।
पर अनुसरण उसके पद-चिन्हों को देख-देखकर बहुत ही
थोड़े अनुयायियो ने किया,—
और अलक्ष्य अनुकरण तो लाखों ने ।
अंत में, वह महायात्री पवन-वेग से अपने अनंत लक्ष्य की ओर वढ़ा ।
और अव अकेला ही चल रहा था;
वे सव पीछे ही छूट गये ।
कुछने तो फिरभी उसकी छाया को छूने का यत्न किया,
और कुछ, उसने पीछे जो धुधला-सा वातावरण
छोड़ा था, उससे लिपट गये ।
इतिहास फिर एक वार अपनी पुनरावृत्ति पर मुस्कराया !

: ११ :

कैसा जागरूक था वह !

अहिसा की ज्योति को उसने एक क्षणभी क्षीण तो
नही होने दिया ।

सत्य के दीये मे हरदम वह रोम-रोम से स्नेह उँडेलता रहा;
और हर साँस को राम-नाम की लौ से जोड़ता रहा ।
और तन के तार-तार से उसने प्रेम का सुर निकाला ।
हाँ, काल ने एक पलभी उसे अचेत नही पाया ।

: १२ :

उस शिल्पी ने तो बिना धार के पुराने औजारों से भी काम
ले लिया था।
पाषाण-खंड खुरदरा था, टाँकी मोथरी,
और हथौडा भी टूटा-फूटा।
किंतु प्रतिमा उसने इतनी सुंदर गढी, कि
देखकर विश्व विस्मित रह गया।
इसलिए कि उस शिल्पी ने प्रतिमा मे अपने प्राणो को
प्रतिष्ठित किया था।
प्राण-प्रतिष्ठा जब उसने की,
तब देव-प्रतिमा से भी कही अधिक उस शिल्पी की दिव्य
देह पर पुष्पो की वर्षा हुई थी।

: १३ :

जब वे उसे अपने अनेक कलापूर्ण चित्र दिखा चुके,
तो उसने उन्हे सलाह दी—
"जाओ, सामने की उस झोपड़ी की कच्ची दीवारों पर भी
कुछ चित्र बना डालो—
"हरे-हरे दोनो मे लाल, पीली, सफेद मिट्टी वही से ले-
लेकर घोललो,
"और विविध पत्तियो का रस निचोड-निचोड़कर
अपने रस के हलके-गहरे रग उनमे भरलो—
"फिर चित्र खीचो ग्रामीणो के त्योहारो, उत्सवो और
उनके अनेक स्वप्नो के।
"और देखो, उन चित्रो की मोटी-पतली रेखाओ पर
अपने अतर के स्वर्ण-चूर्ण को जहाँ-तहाँ बिखेर देना।"
फिर, ऐसी ही सलाह अपने आसपास खड़े दूसरे
कलाकारो और शिल्पियो को भी उसने दी।

: १४ :

तूलिका और रंगों पर गर्व करनेवाले कलाकार
हैरान थे—
कि उनकी आड़ी-सीधी रेखाओं की सूक्ष्म अभिव्यंजना को
उसने वैसा सराहा नहीं—
उनके चित्रों को उसने ऊपर-ऊपर से देखभर लिया था।
वे नही जानते थे कि—
उसकी दृष्टि तो अतर्पट पर अंकित उस सुदरतम चित्र
पर गडी हुई थी,
जिसकी सारी रेखाएँ प्रकाश-ही-प्रकाश से फूटी थी।
उस चित्र पर उसकी दृष्टि केंद्रित थी,
जो मानव और प्रकृति के सुंदर सामंजस्य की ओर
क्षण-क्षण संकेत कर रहा था।

: १५ :

कलाकार कोई तो उसपर तरस खाते थे,
और कोई उसे देखकर हैरान होते, और हँसते थे।
इसलिए कि वह न तो उनकी किसी कला-कृति पर
मुग्ध हुआ था,
और न उसने, उनकी आँख से, सौंदर्य की बारीकियों को ही
पहचाना था।
पर वे सब नहीं जानते थे कि—
वह स्वयं उस कला का दर्शक था,
जो मानव को अंधकार में से खींचकर प्रकाश की ओर
ले जाती है,
जो मृत्यु से अलगाकर अमृतत्व का आलिंगन करा देती है।

: १६ :

और इसी तरह यह भी सुना गया कि,
छत्तीसो राग-रागिनियो के मधुर स्वरों से वह कभी भी
आकर्षित नहीं हुआ।
यह नही कि उसने संगीत सुना नही——
सुना, किंतु कलावंत के कान से नही।
क्योकि सगीत के बाहर न रहकर वह उसके अतर्प्रदेश मे
पैठ गया था।
कहना चाहिए कि,
उसके रोम-रोम ने अंतर्नाद का मधु-रस पिया था,
और अंतर्नाद से ही तो सातों स्वर और छत्तीसो
राग-रागिनियाँ प्रस्फुटित हुई है।

कैसी अशुभ घटना थी वह !

युग-युग के जिन सस्कृति-चित्रो पर गर्व किया जाता था,
वे सव पुंछते-मिटते चले जा रहे थे,
और दीवारो मे नित्य-नित्य दरारे पडती जा रही थी ।
विना ही वुलाये एक अनजान चित्रकार वहाँ उतरा,
और एक दृप्टिपात मे ही उसने सवकुछ समझ लिया ।
फटी धूमिल दीवारो के सामने दृष्टि साधकर वह तप.साधना
करने बैठ गया ।
और लो, वे सारे-के-सारे पुंछे-मिटे सस्कृति-चित्र
फिर से वैसे-के-वैसे उभर आये—
और वे दीवारे भी वज्र की जैसी हो गई !
उपासकों को उन प्राणवत चित्रो में मानो
अपनी नष्ट सपदा मिल गई ।
उस सास्कृतिक पुनर्भव के महोत्सव मे उस अनजान चित्रकार के
चरणो पर उन सवने वार-वार अपने मस्तक झुकाये ।

: १८ :

दयार्द्र महात्मा ने अंध हठ को चक्षु-दान दिया—
　　और उसका वह जड रूप न रहा !
इस भव्य रूपांतर को उस सत्य-शोधक ने 'आग्रह' कहा,
जिसे सत्य ने अंगीकार किया,
भक्ति-भावना ने जिसे रसयुक्त बना दिया,
और क्रिया से जिसे नई-नई प्रेरणा मिली।
सत्य का सम्यक् आग्रह था यह ।
अत में, यही उस युग-पुरुष का ब्रह्मास्त्र बना ।

: १९ :

सत्याग्रह उसका वह ब्रह्मास्त्र बन गया,
जिसके बल पर सर्वोदय अपना जयस्तंभ खड़ा
कर सका।
अन्य सब अस्त्रो ने भी समय-समय पर लोकोदय के
वडे-वड़े दावे उपस्थित किये,
पर ऐसे हरेक दावे की नीव खोखली ही पाई गई।
अंदर झाँककर देखा तो यही पाया कि—
जन-संहार की उपयोगिता सिद्ध करने की नीयत से ही
लोकोदय के भड़कीले विज्ञापन उन्होंने जहाँ-तहाँ
चिपका रखे थे।

: २० :

कहाँ, किसे विश्वास होता था ?
हाँ, कौन मानता था कि—
वज्र को वह फूलों के हथौडे से चूरचूर कर देगा !
वह अपने निश्चल आसन पर निष्कप वैठा था,
और उसके सत्याग्रह की प्रचड अग्नि जल रही थी ।
प्रतिपक्षियो ने जितने भी अस्त्र-शस्त्रों का उसपर प्रयोग किया,
सब उस अग्नि मे पिघल-पिघलकर गल गये ।
ब्रह्मर्षि के तपोवल के आगे वे ठहर न सके ।
उसके हथौड़े से, जो फूलों का था, वज्र चूर-चूर हो गया ।

: २१ :

राम-राज्य का चित्र दिखलाते हुए
उस युग-गुरु ने इंगित से बताया था—
"राजनीति तो धर्म की चेरी है।"
अर्थ वे समझे नही,
क्योंकि मोहिनी राजनीति झरोखे से झाँक-झाँककर
उन्हें लुभा रही थी।

और उसने यह भी बताया था—
"यंत्र तो मनुष्य का दास है।"
वे इसका भी अर्थ नहीं समझे,
क्योकि सामने विराट् उत्पादन-चक्र सतत घूम रहा था,
और तरल तृष्णा की लाल-लाल लपटें उन्हे खीच रही थी।

: २२ :

छूना वर्जित था जिनका,
आग की उन लपटों की ओर वे अपनआप
खिच गय—

वार-वार उनका स्पर्श किया,
और फिर छाती से चिपटा लिया !
और, लो, वायु की शीतल लहरो से वे दूर-दूर रहे !
हृदय से लगाना तो दूर,
उनका स्पर्श भी नही किया,
छाया भी नही पड़ने दी !
और फिर इस विपर्यय को धर्माचार कहा उन्होने !
उस महात्मा से यह अनाचार नही देखा गया।
धधकते अग्नि-कुंड मे वह धड़ाम से कूद पड़ा—
उनके महापाप को भस्मसात करने के लिए।
उन सवकी आँखों के आगे से मूर्च्छा का काला आवरण उठा,
और अस्पृश्यता का अंत सामने क्षितिज को छूता दिखाई दिया।
वृद्ध साधु की करुणा ने मानव के हृत्कमल पर खिची
काली रेखाएँ धो डाली।

उसकी जय हो, जय हो !

: २३ :

सारा देव-स्थान सूना-विहूना-सा पड़ा था ।
भूत-जैसी खड़ी काली-काली दीवारे;
ध्वज-दंड भग्न;
शिखर श्रीहीन;
स्वर्ण-कलश पर भी दीप्ति नही—
और शंख-नाद भी निष्प्राण ।
क्योकि देवता ने घृणा और ग्लानि से मदिर त्याग दिया था ।
बाहर, दूर, उसके कुछ दर्शनार्थी तिरस्कृत खडे थे ।
वही, उन्हीके बीच, देवता भी एक ओर सिर नीचा किये खड़ा था ।
और कपाट बंदकर भीतर वे पुजारी पाषाण-प्रतिमा का
पूजन-अर्चन करने मे व्यस्त थे ।
महात्मा के तपोबल से एक दिन आप ही वज्र-कपाट खुल गये,—
और उन तिरस्कृत भक्तजनो ने पुष्प-मालाएँ लेकर
देवस्थान की देहली पर पैर रखा ।
प्रतिमा पुन: दीप्तिमान हो उठी,
मंदिर की दीवारो पर रक्ताभा खिल गई,
मंगल-ध्वज फहराने लगा,
शिखर पर जैसे किसीने गुलाल बिखेरदी;
स्वर्ण-कलश चमचमा उठा;
और शंख-नाद ने भक्तो के अंतस्तल को अनुप्राणित कर दिया ।
पुजारियो ने उस मंगल-वेला मे देवता की पूजा न कर
उसके उन भक्तजनो की पूजा की ।

: २४ :

अंधे तर्क का काँपता हुआ हाथ पकड़ा,
और उन पंडितो ने धर्मतत्व को अंधेरे में जहाँ-तहाँ
टटोला।

श्रुतियाँ भी वहाँ एकमत से साक्ष्य न दे सकी;
तथा आर्ष प्रमाण भी लड़खड़ाते देखे गये !
यहाँतक फिर भी ठीक !
किंतु उस सत्यशोधक ने देखा,—
कितने ही बड़े-बड़े धुरंधर धर्मतत्व का आभास पकड़े बैठे हैं,
और उसका योगक्षेम काम, क्रोध एवं लोभ के अस्त्रबल से
करना चाहते है!
तब उनके उद्धत अज्ञान पर उसे दया आई,
और उसने उनके व्यामोह को जाकर झकझोर डाला।
महात्मा के इस साधु कृत्य का आभार मानना तो दूर,
उलटे, उसपर वे तिलमिला उठे ।
दाँत पीस-पीसकर कहने लगे—
"यह मनुष्य तो धर्म का सर्वनाश कर रहा है !"

२५ :

मानव की दुर्बल उगलियों ने ऐसी एक भेद-रेखा
खीच रखी थी,—
'साध्य का रंग श्वेत है, तो फिर साधनो के रंग
काले, लाल या कैसे भी हो।'
युग-गुरु ने कहा—
"तुम्हारी मिथ्या दृष्टि है यह।"
हाँ, पहुँचना तो मनुष्य ऊपर चाहता था,
पर उतर रहा था वह नीचे, और नीचे!
दृष्टि तो थी ऊपर की ओर,
पर पैर उसके फिसलते जा रहे थे नीचे को!
इसीलिए तो उस सदात्मा ने बार-बार कहा था—
"साध्य और साधन के बीच तुमने जो यह मोटी
भेद-रेखा खींच रखी है इसे मिटादो।"

: २६ :

आश्चर्य हुआ, और आतंक भी।
यंत्र को विराट् समझ लिया गया,
और उसकी पूजा-अर्चा होने लगी !
यह देखकर उसकी मुख-मुद्रा गभीर हो गई,
और उसने दृढता से कहा—
"यह गलत है, अनुचित है,
पूजा-अर्चा तो मानव की ही हो—
उसके श्रम की ही हो;
क्योंकि वही विराट् है, वही चिरंतन है।"

: २७ :

उनके पूछने पर उसने वज्र की जैसी दृढता से कहा—
"हाँ, चरखे का यही कच्चा तार राष्ट्र के
भाग्य का ताना-बाना बनेगा।"
सुनकर कवि-कल्पना हँस पडी;
वकील की दलील ने अनसुना कर दिया,
और राजनेता की प्रतिभा ने भी पीठ फेरली।
ग्रामजनो ने, निस्संदेह, उसकी श्रद्धा पर विश्वास किया,
और उन्हें अंधश्रद्धालु कहा गया!
पर वह तो सूत का तार खीच-खीचकर ही आगे बढा,
और बढता ही गया—
कुतूहल से, पीछे, कवि, वकील और राजनेता भी
उसके पीछे हो लिये।
और लो, जो धारणा उस दिन उपहास्य और
असंभव-सी दिखी थी, वह सत्य उतरती दिखाई दी।
राष्ट्र का भाग्योदय हुआ, वह मुक्त हुआ।
फिर तो कवि ने भी गाधी महाराज की स्तुति की;
वकील की दलील ने भी सिर झुकाया;
और अंत मे राजनेता की प्रतिभा ने भी हार मानली।

: २८ :

उसने अपने तन से एक-एक तार खीचा,
और राष्ट्र के भाग्य-पट को जीवनभर बुना—
क्योंकि वह महात्मा जुलाहा था।
और वह भगी भी था—
उसीने तो राष्ट्र के बाहर और भीतर का
सारा कूड़ा-कचरा साफ किया।

: २९ :

नारी के शील-पूरित नेत्रों ने कृतज्ञता प्रकट की,
जब उससे उस महात्मा ने कहा :
"तू कल्याणदात्री अग्नि है;
तू पुण्यसलिला गंगा है।"
पुरुष ने कामना की राख से अग्नि को ढक दिया था !
और पुण्योदक को वासना के पात्र में भर रखा था !
जिस दिन वह 'पाषाणी' बना दी गई
राष्ट्र के श्री-स्रोत सब सूख गये।
मूर्च्छित शक्ति को महात्मा ने आकर जगाया—
और राष्ट्र के श्री-स्रोत फिर हरे होने लगे।
अपने समुद्धार के पुण्यपर्व पर नारी ने जन-जन को
शील-दान दिया, शक्ति-दान दिया।

: ३० :

उसने गौ के नेत्रों में समस्त मूक सृष्टि का दर्शन किया।

उस स्वच्छ दर्पण मे उसने देखा—

करुणा छलक रही है, वात्सल्य उमड रहा है।

तव मूर्च्छित राष्ट्र को जगाते हुए उसने कहा—

"मातृ-सेवा कर, तू श्री-सपन्न हो जायेगा।"

और यंत्रवादियों को भी पूर्व चेतवानी दी—

"सावधान ! पृथिवी का शोपण करते हुए भूल से
कही मातृ-वध न कर बैठना।"

ऐसा था वह वृद्ध गोपाल।

· ३१ ·

उसने कहा—

"बोलो, और तुम्हारी वाणी से शत-शत फूल झरें,
और सबके अंतर पर विखर जाये।
तुम्हारी वाणी को सब अपनी-ही वाणी मानें,
वही सबकी बोली होगी—
राष्ट्र की ही नहीं, अखिल जगत् की।"
पर उन्होंने उसका आशय नही समझा।
वे जैसे दिङमूढ हो गये—
शब्दो के आत्मैक्य के बदले वे शब्दों के देहैक्य साधने का
प्रयास कर बैठे !

: ३२ :

उसने कभी पढा था—
"तथागत ने मार पर जय पाई, और चारों आर्यसत्य सामने आ गये।"
वह इसी बोधि-पथ पर चला।
वासना को पैरों तले कुचलकर उसने सत्य का साक्षात्कार किया।
उसने प्रार्थना मे गाते हुए सुना था—
"वैष्णव वह, जो दूसरों को भी अपने संपर्क से वैष्णव बनाले।"
उसने हरि का मार्ग पकडा, जो शूरवीरो का था,—
और अपने साथ कितनों को ही वैष्णव वना लिया।
फिर एक दिन उसके कान में यह भी पड़ा—
"सिर अपना उतारदे, और प्रेम का अमृतफल तोड़ले।"
यह भी उसे सस्ता ही जँचा,
और सौदा कर वैठा।
और प्रेम का अमृतफल तोड़कर दूसरों को भी खिला गया।

: ३३ :

आशा और आसक्ति को उस महात्मा ने इस तरह
अलग-अलग कर दिया,
जैसे दूध में से पानी को ।
आशा का उपयोग उसने सत्य के सतत परीक्षण
और सम्यक् दर्शन में किया ।
तप उसका कितना प्रखर था, कि—
आसक्ति आप-से-आप भाप बनकर उड़ गई ।

: ३४ :

पीछे-पीछे लाखों-करोड़ों कंठ जयकार बोलते जाते थे—
पर वह तो अकेला ही चुपचाप अंधकार को चीरता
हुआ आगे बढ़ा,
और ऊँचे-ही-ऊँचे चढ़ता गया ।
सारे यात्रियों का रास्ता वह अकेले ही चला,
सबका बोझ उसने अकेले ही ढोया;
क्योंकि उसकी 'सर्वोदय'-देश की यात्रा थी ।

: ३५ :

जिसेभी खीचना चाहा, उसके मानस-पट पर
वात्सल्य-दृष्टि के श्वेत-श्वेत पुष्प छितरा दिय,—
और वह तत्क्षण खिच आया,
जैसे चुबकीय आकर्षण था उसकी स्नेह-दृष्टि में।
और जिसकेभी अंतर पर आशिष के स्पर्श-कण बिखेर दिये—
वह तत्क्षण कंचन मे पलट गया,
जैसे पारस था उसके आशिप मे।

: ३६ :

उसने तो सदा यही कहा—

"मै तो एक सामान्य मानव हूँ।"

इसीलिए तो वह पूर्णत्व प्राप्त कर सका।

किंतु भक्तों ने उसे मानव से परे अथवा भिन्न जाति का

जीव मान लिया।

राम, कृष्ण और बुद्ध को भी उन्होंने इस धरा-धाम पर

मानव नही रहने दिया था।

यह कैसी क्या बन गई प्रकृति, कि—

देवलोक में ही भक्तो की भावना विकसित होती है !

जबकि उस महात्मा ने बारबार कहा था—

"तुम तो श्रद्धा के सहारे इस लोक के मानव में ही

सत्य को खोजो, और उसे आत्मसात् करलो।"

: ३७ :

उसने कहा—

"राष्ट्र अपने अंतर को स्वच्छ और स्वच्छतर बनाये,
और अपने-आपको सर्वोदय के आँगन में निस्संकोच बिखेरदे,—
स्वाधीनता स्वयं उसका द्वार खटखटायेगी।"
और हुआ भी यही।
जैसे, स्वतः रस-स्निग्ध पुष्प के अंतर्द्वार खुल गये।

: ३८ :

उन सबने तो हिंसा को ही 'प्रकृति' मान लिया था।
किंतु उस महान् सत्यशोधक ने उसे सदा सर्वथा
'विकृति' ही कहा ।
पूर्वकालिक ऋषियों ने उसकी इस श्रद्धा एवं धारणा पर
अपना हर्ष बरसाया।
और सत्य ने भी इसी निष्कर्ष को स्वीकार किया ।
समत्वयोग की भूमिका पर हिंसा अपना अस्तित्व
कहाँ सिद्ध कर सकती थी ?

: ३९ :

महात्मा ने तो सदा सहज सत्य का अनुसरण करने को
कहा था।
ऐसा किया होता, तो अवतक उन सबके अतर का कोना-कोना
आलोक से भर जाता '
विफल अनुकरण ही किया उन्होंने--
उसके प्रत्येक पके-अनपके प्रयोग का,
और उसकी प्रत्येक बाह्य चेष्टा का भी !
क्षण-क्षण अहंकार को पोषण दिया, कि
ऊपर के उपकरणों को बटोर-बटोरकर
वे भी महात्मा बन जायें !
कैसा भारी भ्रम था !

: ४० :

बारबार उसने सचेत किया था—
"मैंने क्या-क्या कहा उसके अक्षरों से न चिपट
बैठना तुम लोग;
तुम तो अंतर्निहित अर्थ को ग्रहण करना—
और वह भी सत्य के काँटे पर तोल-तोलकर।"
पर उपेक्षा से देखा गया उसकी चेतावनी को,
और वे अनुयायी अक्षरों को ही पकड़कर बैठ गये!
पत्थर को देवता न बनाकर देवता को पत्थर बना देना ही
अनुयायियों का स्वभाव सदा से रहा है क्या?

: ४१ :

उसने लंगोटी धारण की,
और राजमुकुट उसके चरणों पर लोटने लगे !
अकिंचन को उसने छाती से लगाया
और राजलक्ष्मी काँप उठी !
आक्रांता से जब उसने कहा—
"भूमि छोड़कर चले जाओ।"
आक्रांता ब्रह्मशाप का सामना न कर सका,
और उसे जाना ही पड़ा।
उसके अस्त्र-शस्त्र काम न दे सके।
कैसा अपूर्व अद्भुत चमत्कार ! !

: ४२ :

वे दोनो भाई धर्म की रक्षा करने चले थे ।
हिसा और प्रतिहिसा के सहारे वे धर्म-पथ पर चल रहे थे !
मानव से यो वे दोनों देवता बनने जा रहे थे,
और इसीलिए वे हिस्र पशु बन गये !
दोनो ने दोनों का रक्त-पान किया,
और नारीत्व का लज्जास्पद अपमान भी—
दोनों के घर धायँ-धायँ जल उठे ।
उन मानव-पशुओ द्वारा रचे अग्नि-दाह को
उस महात्मा ने बुझाना चाहा ।
सैकडों घड़े पानी डाला उसने;
पर वह बुझी नही; और-और भडकती गई ।
दोनो ने एक-दूसरे के हृदय को चीर-फाड डाला था,
दोनो रक्त से नहाये हुए थे ।
पशु से आक्रांत मानव जब किसीभी तरह न जागा,
तब, अत में उस परमदयालु ने
भाई-भाई के फटे-कटे दिलो को अपने रक्त की लेई से
जोड़ दिया ।
हिसा-प्रतिहिसा ने दोनो का हाथ छोड़ दिया ।
अब वे पशु नहीं, मानव थे ।

: ४३ :

चारों ओर आग धायँ-धायँ जल रही थी,
और वह उस दावानल के बीच निश्चल निष्कंप
खड़ा था !

सर्वोदय की पुण्याशा का हिम-स्पर्श
वह वीतराग वहाँ, उस भयंकर अग्निदाह मे भी, पा रहा था।
अथवा, आशा के रजत-पात्र मे दावानल को
उँडेल-उँडेलकर वह पीता जा रहा था ।
और उस अनल-पान की अंतिम घूंट ?
उमे तो वही जाने ।

: ४४ :

अपनी वलि चढ़ादी, और वह सारे विश्व-ब्रह्माण्ड में भर गय
बूँद से जैसे महार्णव बन गया
मृत्यु वेचारी !
उसे तो केवल उसकी छाया हाथ लगी !
उत्सर्ग की महिमा को उसने दिग्दिगंत मे कितना फैला दिया
कितना विराट् वना दिया !

: ४५ :

उसके सिधार जाने के पीछे एक-दो शोकाकुल शिष्यों ने तो
यहाँतक कहा—

"वह तो गया—अब किससे पूछे?
क्या अच्छा हो कि कुछ क्षणो के लिए वह लौट आये,
और बता जाय कि—
उसके इस देह-पिड का अंतिम संस्कार हम किस विधि से करे।"
उन शिष्यों की यह उत्कट भक्ति-भावना थी,
या पराश्रय की पराकाष्ठा?
निश्चय ही उस युग-गुरु ने इस प्रकार की धर्म-देशना
कभी नही दी थी।
वह तो आँखों को खोलने आया था, बंद करने नही

४६

निराला ही रहा है राज-शासन का अपना मार्ग—
हर जगह, हर समय।
गाधी की शव-यात्रा का भी आयोजन उसने
अपनेही ढंग से, अपनेही मार्ग से किया था।
भारी-भारी शस्त्रास्त्र-सज्जित रथ,
और आतककारी सैनिक अभियान !
शासन के लिए सहज भी यही था।
अहिसा के प्रति भी शासन के हाथों से ऐसी ही
श्रद्धाजलि दी जा सकती थी !
ऐसे ही, गांधी-सिद्धांतों का प्रतिपादन और प्रचार भी
वह अपनेही ढंग से करेगा।
भय है कि राज-शासन द्वारा किये गये श्रद्धा-दान पर
मोहित प्रजा कही अपनी निज की निष्ठा न खो बैठे,
और कही निष्क्रिय न हो जाय।

. ४७

नन्हे मुन्ना ने सूना-सूना देखकर प्रात. उठते ही पूछा—
"तब क्या हमारे बापू फिर नोआखली चले गये ?"
घर के रोते-विलपते लोगो से कोई उत्तर न बन पड़ा ।
"न, अपने सेवाग्राम चले गये वे—"
अपनेआपके इस उत्तर से भी उसे पूरा सतोष नही मिला।
अबोध विस्मित बालक से क्यो किसीने नही कह दिया,—
"तेरा प्यारा बापू तो, मुन्ना, तेरी फूल-सी मुस्कराहट मे
कल सॉझ को समा गया !'
' सयानों की चतुर दुनिया से बच्चो के बापू का मन
बहुत ऊव गया था।

: ४८ :

नन्हे-नन्हे वच्चों को विश्वास था कि—
उनके बापू वहुत दूर नही गये होंगे; वे कुछ ही क्षणों में
उनके पास फिर लौट आयेंगे।
संशय वच्चो के समीप जाने से काँपता है न !
सयानो की यह भारी समझ क्यों गवा वैठी वह अनमोल रत्न—
वच्चो के-जैसा सरल विश्वास !
नही तो वे सयाने भी उसकी अमरता मे वैसी ही
जीवित श्रद्धा रखते होते।
और प्रेम-प्रीति को हाथ से इस बुरी तरह न गवा वैठते ।

: ४९ :

उन्होंने कहा—

"अच्छा होता कि उसकी पूजा हम उसीसे पूछ-पूछकर
किया करते।
पर वह अब कहाँ लौटकर आयेगा !"
यह कुछ कठिन तो नही।
उसकी जीवन-पुस्तक उनके सामने सदा खुली पड़ी है—
उसे वे रोज देख लिया करें।
पर डर है कि पुस्तक के स्वच्छ पन्नों को कही वे अपनी
अंधी भावना का रंग उँडेलकर विगाड़ न दें।

५०

उसके भी नाम पर मेला भरा, और बाजार भी।

कला-प्रदर्शन, और ग्राम-उद्योगों के भी आयोजन हुए।
हाट-बाजार मे चार-पाँच दिन खूब चहल-पहल रही;
और उस कोलाहल के बीच—
उसके विविध सूत्रों पर विचार-मंथन भीखू व हुआ।
जहाँ, मेले की हाट मे किसीने कुछ महँगा बेचा,
और किसीने कुछ सस्ता विसाहा।
महात्मा ने भी शायद उस मेले को अंतरिक्ष से झाँका हो—
पर जिस महा महँगी वस्तु को उसने सिर देकर विसाहा था,
उसका भी क्या कोई गाहक उस मेले में पहुँचा था ?

: ५१ :

वह गया, वह गया सत्य का प्रकाश-पथ दिखाकर,
अहिंसा का अनुपम धर्म सिखाकर ।
अब तो युग-मानव, हृद्देश मे, सद्विवेक की सस्थापना करे,
यही उसका, महात्मा के चरण-चिह्नो का, अनुसरण होगा ।
अब तो युग-मानव आर्यशील की दीक्षा ग्रहण करे,—
यही उस महात्मा के पाद-पद्मो की अर्चा होगी ।

: ५२ :

जिस धरती पर बैठकर उसने प्रकाश-किरणें फेंकी थी,
वहाँ की मिट्टी खोद-खोदकर भक्तों ने ले जानी चाही,
और उन वृक्षों की पत्तियाँ और डालियाँ भी तोड़ डाली।
जिनकी छाहँतले उस महान् यात्री ने विश्राम किया था।
आश्चर्य कि, उन्होंने उन प्रकाश-कणों को न बटोरा,
जो कि उसने चारों ओर फेंके थे!
हाथ उनके केवल मिट्टी के ढेले और वृक्षों की पत्तियाँ ही लगी!
जैसी श्रद्धा, वैसी प्रसादी।

: ५३ :

न जाने कितने छोटे-बड़े यात्री—

किस-किस देश के और किस-किस समाज के,

उसकी जीवन-साधना से प्रेरणा ले-लेकर चले थे,

आजभी चल रहे है, आगेभी चलते रहेंगे।

और कुछ यात्री तो अवश्य अपने लक्ष्य-स्थल पर

पहुँचे होंगे;

आगभी शायद कुछ पहुँचे !

उसके दिखाये प्रेम-पथ मे न कोई शंका है, न उलझन।

: ५४ :

इसमें क्या विशेषता कि,—

दूसरे राष्ट्रों के साथ उस महात्मा के देशवासी भी
काँच के रंग-विरंगे टुकड़े बटोर लाने के लिए
उनकी घुड़दौड़ में हिस्सा लें ?
उस सद्‌गुरु ने तो उन्हें गहरे पानी मे पैठकर
असली रत्न खोज लाने की शिक्षा दी थी।
उसे वे भूल न जाये।

: ५५ :

उसने यही सदा सिखाया—
"प्रेम तो सिर का सौदा है;
सत्य का व्यापारी ही इस हाट मे पैर रख सकता है।"
उन सब संतो ने भी ऐसी ही साखियाँ कही थी—
साखियाँ सुनने मे प्यारी, गाने मे मीठी।
पर उस विकट बाट पर पैर रखे कौन ?
और कौन उस हाट में पैठे ?
पर उसका जो अनुयायी बनना चाहे, उसके लिए कोई
दूसरा मार्ग ही नही।

: ५६ :

अंततक वह सत्य की गहरी-से-गहरी शोध करता रहा;
प्रयोगों की मानो माला ही गूंथ डाली।
और वे सब उस सतत प्रवाह को आज भक्ति-भावना के
भीतर आबद्ध कर लेना चाहते हैं!
प्रकाश मिले कि वे भक्तजन अनंत असीम सत्य के आगे
'इति' की लकीर न खींचें!

: ५७ :

अच्छा हो कि उसके वचनों को शास्त्र का अभिनव रूप
न दिया जाय।

शास्त्र योंही क्या कम है !
उनकी सूची अब और लंबी न की जाय।
वह सत्यशोधक भी शब्दों के बहुत ऊहापोह में नही पडा था।
तत्त्व-चितकों ने शास्त्र को शस्त्र मान लिया था;
और उस शस्त्र द्वारा उन्होने सत्य की रक्षा की थी।
अद्‌भुत है कि सत्य की संरक्षा तर्क करे !
या, निरपेक्ष को प्रकाश दिखाये सापेक्ष !

: ५८ :

विवेक को पीठ देकर वे उसके अनुयायी बनने गये थे।
यात्रा वे उत्तरापथ की करनेवाले थे—
लोग भी ऐसा ही मानते थे, या वे मनवा लेते थे—
पर मुख उन यात्रियों का था दक्षिणापथ की ओर !
प्रयत्न अद्‌भुत था यह, पर अभूतपूर्व नही।
इतिहास पहले भी ऐसी कई यात्राएँ देख चुका था।

: ५१ :

उसका तुम कोरा नाम न जपो,
और न बारबार उसके पादपद्मो का वंदन करो।
पात्र पहले से ही आकंठ भरा है;
उसमें और अधिक न उंडेलो, न जयकार, न नमस्कार।
तुम तो सत्य की शरण जाओ,
अहिंसा की शरण जाओ—
यही उस महात्मा के नाम का जप और जयकार होगा,
और यही होगा उसके पादपद्मों का अभिवंदन।

: ६० :

पग-पग पर उसके नाम की दुहाई दी गई।
अनुयायियों ने बुद्धि को इतना पंगु कर दिया कि,
बिना सहारे वे एक डग भी आगे न रख सके।
उसके वचनो के अक्षर, स्वर और मात्राएँ तक गिनी जाने लगी।
झर-झरकर बहते नीर को उन्होंने बाँध दिया।
उस प्रकाश-पथ पर पैर न रखा, जिसपर कि
वह महात्मा सारे जीवन चला—
न कभी थका, न कभी हताश हुआ,
और अंत में अपने लक्ष्य को बेधकर आगे-से-आगे बढ़ गया।

: ६१ :

अब तक तो उसके चरण-चिह्नों का गुण-गान ही अधिक हुआ है।
और उससे भी अधिक उसका भडकीला विज्ञापन।
चरण-चिह्नों का अनुसरण कहाँ कितने यात्रियो ने जीवन-पथ पर किया ?

अथवा,
'स्वार्पण' की पूरी तैयारी कितने यात्री कर चुके ?

: ६२ .

उसके अनगिनती उपकारों का पहाड सामने खड़ा है ।
रेंगते-रेंगते वहाँ वे जा रहे हैं,
और जैसे उस पहाड़ के तले दबे जा रहे हैं !
वे उसके दिखाये पथ पर दो-चार डग तो भरे,
और उस महात्मा से जो मनो ऋण ले चुके हैं
उसके एक-दो कण तो चुकादे

: ६२ :

वह देवता नहीं, जो रत्न-काचन की भेंट से प्रसन्न हो जाय;
सस्ती पूजा से वह रीझनेवाला नहीं।
रत्न, कांचन और सुगंधित मालाएँ एक ओर रखदे वे पुजारी।
बड़े-बड़े उद्यानों और ऊँचे-ऊँचे स्तंभो से भी
वह प्रसन्न होनेवाला नहीं।

उस देवता का उन्हें पूजन करना है,
तो अपने आपेको खोकर अपने-आपको पहचानें।
तब उसका जय-जयकार बोले।
उसकी रीझ का यही एक रास्ता है।

: ६४ :

आँखों पर राजनीति का रंगीन चश्मा चढ़ाकर,
वे उसका यथार्थ रूप देख सकेंगे क्या ?
चश्मा उतारदे वे दर्शनेच्छु—
दृष्टि वैसी-की-वैसी रहने दें, जैसीकि शैशव में पाई थी—
तब उस महात्मा का दिव्य दर्शन पा सकेंगे वे।
अथवा, वह दृष्टि भी उसीसे माँग ले;
पार्थ को भी तो कृष्ण से दिव्य दृष्टि उधार ही लेनी पड़ी थी।

सके प्रेम का निर्झर निरंतर झर रहा है—
सबके सुख के लिए, सबके हित के लिए।।
कोई भी चला जाय उस झरने पर—
घाट सभीके लिए खुला है।
न कोई भेद है, न कोई रहस्य।
कोई भी जाकर प्यास बुझाले उस निर्मल नीर से,
और अपना-अपना जीवन-घटभी भरले,
पर यह देख लिया जाय कि घड़े मे कही कोई छेद तो नहीं है।

: ६६ :

धन्य हैं वे, जिन्होंने बापू के भरपूर आशीर्वाद पाये—
जिनका रोम-रोम उस वात्सल्य-रस से भीगता रहा !
और धन्य है बारबार उन्हें,
जो अपने हृदय-पात्र को उस अमृत-रस के योग्य बना सके।
अमृत तो निरंतर झरता रहा,
पर उन पात्रों में कैसे भरा रहता, जिनमें छिद्र-ही-छिद्र थे !

: ६७ :

भक्तों ने कहा—

"तू भी आज सबके साथ उस महात्मा का कुछ
मंगल स्तवन कर ।"

करना चाहा भी, पर कुछ बना नही ।
सबकुछ कुठित हो गया ।
तब स्तवन कैसे होता ?
कुछ था भी, तो उसका कण-कण बिखर गया ।
उन संचित कणों को कोई कहना चाहे तो भले ही स्तवन कहे—
नही तो इन उद्गारो मे ऐसा क्या है
जो उस महात्मा के चरणोतक पहुँच सके ?

